दैनिक भास्कर

Date: 12-11-26

कई प्रोजेक्ट्स में देरी से हुए नुकसान का दोषी कौन?

संपादकीय

चीन में एक कानून के तहत विभिन्न प्रोजेक्ट्स के लिए भूमि अधिग्रहण, पर्यावरण क्लीयरेंस आदि का कार्य एक एजेंसी को दिया जाता है और देरी पर जवाबदेही तय की जाती है । भारत में भी ऐसा ही करना जरूरी है। सरकार के पैमाना पोर्टल के अनुसार कई बड़ी परियोजनाओं में विभिन्न स्तरों पर देरी के कारण उनकी लागत में दो लाख करोड़ रु. की वृद्धि हो गई है। इनमें से एक तो 25 वर्ष से विलम्बित है, जबकि बाकियों में एक से डेढ़ दशक की देरी है। इनमें से अधिकांश अंतर-संरचनात्मक विकास से जुड़ी हैं, जैसे रेल, सड़क, सिंचाई, बिजली, कोयला । ऐसी परियोजनाएं विकास की रीढ़ होती हैं और इनमें देरी का मतलब है जनता को मूलभूत सुविधाओं से वंचित रखना । इस देरी से बढ़ी उक्त लागत राशि से हर जिले में 50 करोड़ की लागत वाले छह बड़े स्कूल या 150 करोड़ की लागत वाले दो बड़े अस्पताल खोले जा सकते थे। दरअसल इन प्रोजेक्ट्स पर दलों को वोट नहीं मिलते। सिंचाई खासकर नहर प्रणाली के एक प्रोजेक्ट के पूर्ण होने का काल औसतन 8-12 साल होता है । यही कारण है कि आज भी देश में नहर प्रणाली से सिंचाई में 75 वर्षों में कोई खास विकास नहीं हुआ। इसी तरह आजादी से आज तक रूट किलोमीटर रेल लाइन में 22% का विस्तार हुआ है। चूंकि बिजली परियोजना में पूर्णता का काल 5 साल और सड़क का 3 से 5 साल होता है, इसलिए इन पर ज्यादा काम हुआ है। सरकारों का ध्यान तत्काल लाभ देने वाले लोकलुभावन उपक्रमों पर अधिक रहता है।

Date: 12-11-26

देश में समृद्धि धीरे-धीरे ही सही पर बढ़ी है

मिन्हाज मर्चेंट, (लेखक, प्रकाशक और सम्पादक)



क्या भारत में गरीबी कम हो रही है? विश्व बैंक का तो यही मानना है। अपनी ताजा 'पॉवर्टी एंड इक्विटी ब्रीफ' (गरीबी एवं समानता रिपोर्ट) में इस संस्था ने बताया है कि गरीबी रेखा से नीचे जीवनयापन करने वाले भारतीयों की संख्या घटकर 2.6% रह गई है। 2004 में 53 करोड़ भारतीय भीषण गरीबी में जीवनयापन कर रहे थे। यह देश की कुल आबादी का 46.4% था।

महंगाई के असर को समायोजित करते हुए गरीबी रेखा के वही मानदंड लागू करने पर 2023 में अत्यंत गरीबी में जीवनयापन करने वाले भारतीयों की संख्या 5.3 करोड़ ही रह गई थी। इस तरह मनमोहन सिंह और नरेंद्र मोदी- दोनों के प्रधानमंत्रित्व काल को समेटने वाले इन 20 वर्षों में लगभग 50 करोड़ भारतीय गरीबी रेखा से ऊपर उठे। जमीनी स्तर पर मिलने वाले अनुभवजन्य साक्ष्य इस आकलन की पुष्टि नहीं भी कर सकते हैं।

इसके बावजूद विश्व बैंक कहता है कि अत्यंत गरीबी में आई तीव्र गिरावट और लगभग 50 करोड़ लोगों का गरीबी के एक उच्चतर आय-मानदंड से ऊपर उठना आधुनिक युग की सबसे उल्लेखनीय उपलब्धियों में से एक है। भारत को ब्रिटिश राज से एक चरमराई हुई अर्थव्यवस्था विरासत में मिली थी। 1947 में देश की 80% से अधिक आबादी अत्यंत गरीब थी।

इसके बाद भी सुधार की प्रक्रिया धीमी रही। 1977 तक अत्यंत गरीबी की दर धीरे-धीरे घटकर 59.7% तक पहुंची। 2004 में भी यह 46.4% थी। वास्तविक सुधार 2011 के बाद शुरू हुए, जब अत्यंत गरीबी की दर घटकर 27.1% रह गई। इसके बाद गिरावट की रफ्तार तेज हो गई। 2022 तक अत्यंत गरीबी की दर घटकर 5.3% पर आ गई और 2023 में आधी होकर 2.6% रह गई। लेकिन आम भारतीयों को अत्यंत गरीबी में आई इस ऐतिहासिक गिरावट का असर महसूस क्यों नहीं होता?

इसकी एक वजह यह है कि विश्व बैंक ने अत्यंत गरीबी की परिभाषा तय करने के लिए बहुत कम आय-सीमा निर्धारित की है : प्रतिदिन 3 डॉलर। यह स्पष्ट रूप से स्वीकार्य सीमा नहीं है। यदि इस आय-सीमा को बढ़ाकर 4.2 डॉलर कर दिया जाए, तो गरीबी रेखा से नीचे जीवनयापन करने वालों का अनुपात बढ़कर 16.1% हो जाता है।

यह आंकड़ा भारत में अत्यंत गरीबी की दर पर किए गए कई अन्य अध्ययनों के दायरे में आता है, जिनमें सुरेश तेंदुलकर समिति की रिपोर्ट भी शामिल है। यदि अब भी 16.1% या 23 करोड़ भारतीय घोर गरीबी में हैं, तो इसका अर्थ है अभी लक्ष्य हासिल नहीं हुआ। 81% परिवारों को मिल रहे कल्याणकारी लाभों और मुफ्त राशन ने खाने-पीने की चीजों की महंगाई और बेरोजगारी की दोहरी मार से निपटने में मदद जरूर की है। सच कहें तो भारत में तीन अलग-अलग देश दिखलाई देते हैं।

पहला भारत आय के लिहाज से शीर्ष 10 प्रतिशत भारतीयों का है। ये करीब 15 करोड़ सम्पन्न लोग हैं और तेजी से बढ़ते उच्च-मध्यम वर्ग का हिस्सा हैं। इनके पास शेयर्स हैं, ये अकसर यात्राएं करते हैं और इनका जीवन-स्तर लैटिन अमेरिका के मध्यम-आय वाले देशों के लोगों के जीवन-स्तर के बराबर है।

दूसरा भारत बीच में स्थित है। इसमें करीब 50 प्रतिशत यानी 70 करोड़ भारतीय आते हैं। इनके पास सीमित संसाधन हैं, वे भारी कर्ज लेते हैं और उन्हें सुरक्षित तथा अच्छी तनख्वाह वाली नौकरियां हासिल नहीं हैं। इनके भीतर बेहतर जीवन की आकांक्षाएं हैं और ये आर्थिक सीढ़ी पर ऊपर चढ़ने की कोशिश में लगे हैं।

तीसरी श्रेणी से बहुत से लोग छोटे-मोटे काम-धंधे करते हैं। इनमें एक बड़ी आबादी छोटे किसानों की भी है, जिनका जीवन एक फसल से दूसरी फसल तक किसी तरह चलता है। जब मानसून विफल हो जाता है, जैसा कि इस साल भारत के कुछ हिस्सों में हुआ है, तो उन्हें साहूकारों से भारी ब्याज दरों पर कर्ज लेना पड़ता है। ऐसे ब्याज की अदायगी की उम्मीद भी वे नहीं कर सकते।

यही कारण है कि भारत में हर साल 10,000 से भी अधिक किसान आत्महत्या कर लेते हैं। पिछले कुछ वर्षों में भारत के साथ यह दुर्भाग्य रहा है कि उसे ऐसी घटनाओं का खामियाजा भुगतना पड़ा है, जिन पर उसका कोई नियंत्रण नहीं था। कोविड महामारी ने भारत की आर्थिक विकास दर के दो वर्ष छीन लिए। ईरान युद्ध ने व्यापार को बाधित किया है।

अमेरिकी बाजार से ऑर्डर मिलने बंद होने के कारण सूरत के हीरा तराशने और पॉलिश करने वाले कारीगर गरीबी की चपेट में आ गए हैं। क्रूड की कीमतों में बढ़ोतरी से खाने-पीने की चीजों की महंगाई बढ़ी है। एआई के चलते शुरुआती स्तर की अनेक नौकरियां अप्रासंगिक होती जा रही हैं। लेकिन अमेरिका में ट्रम्प की हार के बाद माहौल बदला है।

शेयर बाजारों में तेजी है, रुपया मजबूत हुआ है, तेल की कीमतें गिर रही हैं और अगले मानसून में ला नीना के प्रभाव से अच्छी बारिश होने की उम्मीद है। भारत में गरीबी घटने को लेकर विश्व बैंक का आशावाद सही साबित हो सकता है, क्योंकि विदेशी निवेशक एक बार फिर भारत का रुख कर रहे हैं। बढ़ती अर्थव्यवस्था का लाभ देश के इन तीनों वर्गों को अलग-अलग ढंग से और अलग-अलग समय पर मिलता रहा है। आर्थिक विकास के लाभ धीरे-धीरे निचले तबकों तक पहुंचे हैं।

Date: 12-11-26

"पहचान' की राजनीति की सीमाएं अब सामने आ रही हैं

आशुतोष वार्ष्णेय, (ब्राउन यूनिवर्सिटी, अमेरिका में राजनीति विज्ञान के प्रोफेसर)

आंकड़ों के लिहाज से देखें तो मध्यावधि चुनावों में ट्रम्प को बड़ी हार मिली। ओबामा को भी 2010 के मध्यावधि चुनाव में हार का सामना करना पड़ा था। भले ही इन चुनावों में राष्ट्रपति का नाम बैलेट पर नहीं होता, लेकिन हर कोई जानता है कि मध्यावधि चुनाव राष्ट्रपति के कामकाज पर जनता की राय माने जाते हैं।

2026 में ट्रम्प को मिली हार 2010 में ओबामा को मिली हार से इसलिए बड़ी है, क्योंकि उस समय डेमोक्रेट्स सीनेट में मामूली बहुमत बचाने में कामयाब रहे थे। ट्रम्प दोनों सदनों में हार गए। अब विधायिका उनके नियंत्रण से बाहर हो गई है।

अमेरिका में चुनावी नक्शे को बदलने को लेकर लंबे समय से लड़ाई होती रही है, जिससे मौजूदा सत्ता में बैठे लोगों को फायदा मिले और चुनावी मुकाबला उनके पक्ष में झुक जाए। इसे "जेरिमैंडरिंग' या चुनावी क्षेत्रों का नए सिरे से बंटवारा कहा जाता है।

अमेरिका के कई राज्यों में हर दस साल में ऐसा करने की अनुमति है। अमेरिका की यह प्रथा हंगरी और हाल के दिनों में भारत तक भी पहुंची है। ट्रम्प ने कई राज्यों में दस साल की तय अवधि से पहले ही चुनावी क्षेत्रों का नए सिरे से बंटवारा कराने की कोशिश की। उनका सबसे ज्यादा जोर टेक्सस पर था।

यह अमेरिका का दूसरा सबसे बड़ा राज्य है और रिपब्लिकंस के नियंत्रण वाला सबसे बड़ा राज्य भी। ट्रम्प इस राज्य की विधानसभा से अपने पक्ष में पांच चुनावी क्षेत्र बनवाने में कामयाब रहे। लेकिन वे इनमें से केवल एक में ही जीत सके। कुछ दूसरे राज्यों में भी ऐसा ही हुआ।

इससे सबक मिलता है कि चुनावी मुकाबले को अपने पक्ष में झुकाने की कोशिशों को भी हराया जा सकता है, बशर्ते विपक्षी पार्टियां लोगों का समर्थन जुटाएं। बड़े अंतर से मिली जीत "जेरिमैंडरिंग' की काट बन सकती है। कुछ महीने पहले हंगरी ने भी यही संदेश दिया था। "जेरिमैंडरिंग' के जरिए बनाए गए चुनावी क्षेत्रों में भी जीत हासिल की जा सकती है।

दूसरी बात, अगर लोकतंत्र में सिर्फ चुनावों पर भरोसा किया जाए, तो उसके सत्ता में बैठे लोगों की मनमानी का जरिया बन जाने का खतरा रहता है। ट्रम्प पर अब तक अगर कोई रोक लगी थी, तो वह न्यायपालिका की ओर से थी।

खासकर निचली संघीय अदालतों ने उनके फैसलों पर रोक लगाई थी। विधायिका की ओर से कोई रोक नहीं थी, क्योंकि कांग्रेस के दोनों सदनों में रिपब्लिकन पार्टी का नियंत्रण था। अब अमेरिकी राजनीति का पुराना सिद्धांत 'विभाजित सत्ता के साथ शासन' फिर से लौट रहा है।

राष्ट्रपति के पास विधायिका से पारित विधेयकों पर वीटो लगाने का अधिकार है। लेकिन व्यावहारिक तौर पर हर विधेयक पर वीटो लगाना संभव नहीं है। अब विधायिका की जवाबदेही फिर से शुरू होगी। सरकार और विधायिका में गंभीर टकराव भी देखने को मिल सकते हैं। तीसरी बात, पहचान की राजनीति को बड़ा झटका लगा है।

ट्रम्प की राजनीति की सबसे बड़ी ताकत श्वेत बहुसंख्यकवाद था। इसे हिस्पैनिक समुदाय का भी काफी समर्थन प्राप्त था। अश्वेत अमेरिकियों के साथ हिस्पैनिक अमेरिका का सबसे बड़ा अल्पसंख्यक समुदाय है। लेकिन अब हिस्पैनिक बड़ी संख्या में डेमोक्रेटिक पार्टी की ओर लौट आए हैं।

दरअसल, वोटरों के सभी अहम समूहों में डेमोक्रेट्स की ओर वापसी दिखी है। कुछ में यह कम है, तो कुछ में ज्यादा। क्या लोगों की पहचान उनके हितों से ज्यादा मायने रखती है? राजनीतिक विश्लेषण में हमेशा इस सवाल पर बहस होती रही है। इसका कोई एक जवाब हर समय और हर जगह लागू नहीं होता।

जवाब हालात के हिसाब से बदलते हैं। ट्रम्प पहचान की राजनीति में माहिर थे, लेकिन रोजमर्रा की जरूरतों से जुड़े मुद्दों के सामने उनकी यह राजनीति कमजोर पड़ गई। राजनीतिक सिद्धांतकार हन्ना पिटकिन अपनी 'वर्णनात्मक प्रतिनिधित्व' की अवधारणा के लिए जानी गई हैं।

इससे उनका मतलब था कि चुनी हुई संस्थाएं आबादी की कुछ अहम पहचानों- जैसे जातीय और सामाजिक समूहों के आधार पर उसका कितना प्रतिनिधित्व करती हैं। भारत में इस शब्द का मतलब जाति, धर्म और भाषा से रहा है। अमेरिका में इसका मतलब नस्ल, जातीय पहचान और जेंडर से रहा है।

Date: 12-11-26

यदि एआई के समाधान गलत निकले तो सवाल किससे करेंगे

डॉ. सामी महरुम, (ब्रिटेन के राष्ट्रीय तकनीकी संस्थान में रिसर्च डायरेक्टर)



अब जब एआई खुद ही हाइपोथीसिस लिख रहा है, प्रयोगों को डिजाइन कर रहा है और उनके नतीजे भी लिख दे रहा है तो वैज्ञानिकों को भी इसके अनुरूप खुद को ढालना होगा। ज्ञान की विश्वसनीयता बनाए रखने के लिए यह जरूरी होता है कि उसके स्रोत भरोसेमंद हों और वह जनता के प्रति जवाबदेह भी हो। लेकिन मौजूदा एआई क्षमताओं को देखते हुए क्या अब यह भी मायने नहीं रखने वाला है कि शोध कौन कर रहा है?

इस सवाल का सहज जवाब यही होगा कि तथ्य तो तथ्य है, इससे क्या फर्क पड़ता है कि इसे किसने खोजा। लेकिन ज्ञान का प्रसार इस तरह नहीं होता। हमें ज्यादातर वैज्ञानिक दावे ऐसे मिलते हैं, जिनको जांचने के तरीके हमारे पास नहीं होते। इसलिए हम दावे के बजाय उसके पीछे मौजूद व्यक्ति या संस्था की विश्वसनीयता को परखते हैं।

हार्वर्ड के प्रोफेसर स्टीवन शेपिन कहते हैं कि वैज्ञानिक सत्य की स्थापना हमेशा से ही अपने साथी वैज्ञानिकों को उस पर भरोसा दिलाने की सामाजिक प्रक्रिया से जुड़ी रही है। विज्ञान में प्रतिष्ठा केवल विचारों से नहीं बनती, बल्कि संस्थानों, विभागों और प्रयोगशालाओं में निहित रहती है। इन संस्थानों की साख वहां से निकलने वाले शोधों को भी विश्वसनीयता देती है। किसी प्रतिष्ठित संस्थान को छोड़कर जाने वाला वैज्ञानिक अपने साथ उस संस्थान की साख का कुछ हिस्सा भी ले जाता है। अनुकूल परिस्थितियों में वह नए संस्थान को भी एक प्रतिष्ठित केंद्र के रूप में स्थापित कर सकता है।

विश्वसनीयता को हमेशा किसी न किसी ऐसे माध्यम की जरूरत रही है, जिसके जरिए वह लोगों तक पहुंचे। समय के साथ यह माध्यम बदलता रहा है और अकसर इसका विरोध भी हुआ है। विश्वसनीयता के लिए किसी एक विद्वान के बजाय प्रामाणिक संस्थानों, पीयर रिव्यू और शोध मूल्यांकन को महत्व मिलने लगा, तब भी आलोचकों ने आपत्ति जताई थी।

अब जब यह स्वामित्व इंसानों से मशीनों के पास जाने की स्थिति बन रही है तो इस पर श्रेय, मौलिकता और योग्यता के संदर्भ में आपत्तियां तो जताई ही जाएंगी।अब शोध को संचालित करने वाली व्यवस्था में भी बदलाव आया है। धीरे-धीरे इस व्यवस्था में ध्यान इस बात से हटता गया है कि किसी शोध के नतीजे को कितना

समझा गया है और इस पर केंद्रित होता गया है कि वह कितना उपयोगी है। मशीनों से तैयार शोध के नतीजे पहले से ऐसी व्यवस्था के अनुकूल हैं, जो समझ के बजाय नतीजों को अधिक महत्व देती है।

विडम्बना यह है कि पिछले दो दशकों में डेटा को खुला, खोजे जाने योग्य और मशीन द्वारा पढ़े जाने योग्य बनाने के जो प्रयास किए गए थे, उनका उद्देश्य इंसानी शोधकर्ताओं के बीच सहयोग को आसान बनाना था। लेकिन इन्हीं प्रयासों ने वह आधार भी तैयार कर दिया, जिस पर अब ऑटोनॉमस रिसर्च काम कर रही हैं। पिछले साल अमेरिका के स्टार्टअप इंटोलॉजी द्वारा विकसित एआई सिस्टम "जोची' द्वारा लिखे गए एक शोधपत्र ने एसोसिएशन फॉर कंप्यूटेशनल लिंग्विस्टिक्स की वार्षिक बैठक में पीयर रिव्यू की प्रक्रिया पार कर ली।

इसी तरह, सैन फ्रांसिस्को की संस्था 'फ्यूचरहाउस' के एआई सिस्टम 'रॉबिन' ने हाइपोथीसिस तैयार की, प्रयोगों को डिजाइन किया और नतीजों का विश्लेषण किया। उसने पहले ही मंजूर हो चुकी एक ऐसी दवा की पहचान की, जो अंधेपन के एक प्रमुख कारण के इलाज में उपयोगी हो सकती है। ऑनलाइन प्रकाशित होने वाली सामग्री में पहले ही आधे लेख एआई से तैयार हो रहे हैं।

अब तो डिजिटल फॉरेंसिक एक्सपर्ट तक यह नहीं बता पा रहे हैं कि इनमें से असली कौन-से हैं। ऐसे में क्या अब भी मानवीय संवेदनाओं और मूल्यों को महत्व देने वाले लोग इस शोर-शराबे में अपनी बात दूसरों को सुना पाएंगे?

मान लीजिए कि कोई एआई सिस्टम नई वैक्सीन विकसित कर देता है। आम जनता को शायद इससे फर्क नहीं पड़ेगा कि यह काम किसने किया। ठीक वैसे ही, जैसे मरीज यह नहीं पूछते कि उनके खून की जांच किस तकनीशियन ने की है।

लेकिन अगर कुछ गलत हो जाता है तो वे यह जरूर जानना चाहेंगे कि इसके लिए जिम्मेदार किसे ठहराया जाए? व्यक्ति से सवाल पूछे जा सकते हैं, गलती सुधरवाई जा सकती है, उसे अपने दावे वापस लेने के लिए कहा जा सकता है, लेकिन सवाल है कि क्या किसी एआई मॉडल के साथ भी ऐसा किया जा सकेगा?

Date: 12-11-26

दुनिया न्यूक्लियर एनर्जी की ओर बढ़ रही है, हम पीछे नहीं रह सकते

सुखवीर सिंह, (लेखक और आईएएस अधिकारी)

कई बार कोई अनुभव, घटना या सुनी हुई बात इतनी गहराई से हमारे मानस में बैठ जाती है कि हम उसे तथ्य की कसौटी पर परखने के बजाय सत्य मानने लगते हैं। हवाई यात्रा इसका एक छोटा-सा उदाहरण है। सड़क दुर्घटनाओं में कहीं अधिक लोगों की मृत्यु होती है, फिर भी अनेक लोगों को हवाई जहाज में बैठने से ज्यादा भय लगता है। इसका कारण जोखिम की वास्तविक मात्रा से अधिक उसके प्रति हमारी मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया है।

परमाणु ऊर्जा के साथ भी कुछ ऐसा ही हुआ है। चेर्नोबिल और फुकुशिमा जैसी दुर्घटनाओं ने सामूहिक स्मृति में गहरी छाप छोड़ी है। लेकिन ऊर्जा के भविष्य का निर्णय हमारी आशंकाओं नहीं, वैज्ञानिक प्रमाणों, आर्थिक विवेक और पर्यावरणीय उत्तरदायित्व से होना चाहिए। परमाणु ऊर्जा के प्रति चिंताएं व्यक्त की जाती हैं। विकिरण, रेडियोधर्मी अपशिष्ट, संयंत्रों की सुरक्षा और दुर्घटना की स्थिति में व्यापक प्रभाव वास्तविक चिंताएं हैं।

लेकिन अवर वर्ल्ड इन डेटा के संकलित अनुमानों के अनुसार प्रति टेरावाट-घंटा बिजली उत्पादन पर दुर्घटनाओं और वायु प्रदूषण से जुड़ी मृत्यु दर कोयले के लिए लगभग 24.62, प्राकृतिक गैस के लिए 2.82 और परमाणु ऊर्जा के लिए 0.03 ही है। यानी अन्य प्रकार की ऊर्जा के यह 800वें से 100वें हिस्से से भी कम है। ये अनुमान एक महत्वपूर्ण तथ्य सामने रखते हैं : जीवाश्म ईंधनों से होने वाला सामान्य वायु प्रदूषण भी मानव जीवन के लिए गंभीर खतरा है।

हां, परमाणु ऊर्जा भी जोखिममुक्त नहीं है, पर जोखिम का मूल्यांकन प्रति इकाई ऊर्जा के समग्र प्रभाव से होना चाहिए। ऊर्जा संबंधी बहस का दूसरा महत्वपूर्ण पक्ष जलवायु परिवर्तन है। कोयला आधारित बिजली उत्पादन में कार्बन डाइऑक्साइड के साथ-साथ सूक्ष्म कणों और अन्य प्रदूषकों का उत्सर्जन होता है। इसके विपरीत, परमाणु संयंत्र बिजली बनाते समय कोयले या गैस की तरह ईंधन का दहन नहीं करते।

परमाणु ऊर्जा का ग्रीनहाउस गैस उत्सर्जन बहुत कम रहता है। पवन ऊर्जा का उत्सर्जन भी इसी निम्न स्तर के आसपास होता है; इसीलिए एटॉमिक एनर्जी को क्लीन एनर्जी भी कहते हैं। हालांकि यूरेनियम खनन, रेडियोधर्मी अपशिष्ट और संयंत्रों के जीवनचक्र का पर्यावरणीय प्रबंधन भी उतना ही आवश्यक है। परमाणु ऊर्जा के आर्थिक पक्ष पर संतुलित दृष्टिकोण भी जरूरी है।

ये सच है कि परमाणु संयंत्र स्थापित करने में आरंभिक पूंजीगत व्यय बहुत अधिक होता है। अन्य जटिलताएं भी बिजली की लागत को बढ़ा सकती हैं। इसीलिए नए परमाणु संयंत्रों की बिजली हर देश में सौर या पवन ऊर्जा से सस्ती होगी, ऐसा दावा नहीं किया जा सकता। लेकिन सौर और पवन ऊर्जा की उत्पादन लागत में भी पिछले वर्षों में उल्लेखनीय गिरावट आई है।

अनेक स्थानों पर नई सौर परियोजनाएं प्रतिस्पर्धी दरों पर बिजली उपलब्ध कराती हैं। लेकिन सौर ऊर्जा रात में उपलब्ध नहीं होती और पवन ऊर्जा का उत्पादन मौसम पर निर्भर है। हमें चौबीसों घंटे बिजली चाहिए। परमाणु संयंत्रों का एक प्रमुख लाभ उनकी निरंतर उत्पादन-क्षमता है। वे कम भूमि पर बड़ी मात्रा में बिजली उपलब्ध करा सकते हैं और उद्योगों, शहरी क्षेत्रों व स्थिर विद्युत आपूर्ति की आवश्यकता वाले तंत्रों के लिए उपयोगी हैं।

फ्रांस, अमेरिका, रूस, चीन, दक्षिण कोरिया और जापान जैसे देशों ने अलग-अलग स्तरों पर परमाणु ऊर्जा को अपने सिस्टम का हिस्सा बनाया है। इन देशों के अनुभव बताते हैं कि परमाणु ऊर्जा की सफलता केवल तकनीक नहीं, बल्कि वित्तीय व्यवस्था, रेगुलेशन कैपेबिलिटीज, सार्वजनिक विश्वास और दीर्घकालीन नीति की निरंतरता पर भी निर्भर करती है।

भारत के सामने चुनौती और बड़ी है। तेजी से बढ़ती अर्थव्यवस्था, औद्योगीकरण, शहरीकरण और डिजिटल बुनियादी ढांचे को अधिक बिजली चाहिए। सरकार ने 2047 तक परमाणु ऊर्जा क्षमता को 100 गीगावाट तक पहुंचाने का लक्ष्य तय किया है। हालांकि लक्ष्य निर्धारित करना और उसे अर्जित करना अलग-अलग चुनौतियां हैं। इसके साथ ही, हमें सौर-पवन ऊर्जा, ऊर्जा भंडारण, विद्युत ग्रिड और ऊर्जा दक्षता में भी निवेश करना होगा।

दैनिक जागरण

Date: 12-11-26

योग्यता को मिले पहली प्राथमिकता

प्रेमपाल शर्मा, (भारत सरकार में संयुक्त सचिव रहे लेखक शिक्षाविद् हैं)

हाल में बिहार सरकार ने शिक्षकों की भर्ती में डोमिसाइल को लेकर एक ऐसा नीतिगत फैसला लिया, जो चिंता पैदा करता हैं। 32 हजार शिक्षकों की भर्ती के लिए जारी विज्ञापन में रखी गई यह शर्त सवालों में है कि दूसरे राज्य की वे महिलाएं बिहार के डोमिसाइल (मूल निवासी होने का) और आरक्षण का लाभ नहीं ले सकेंगी, जिनकी शादी बिहार में हुई है। केवल उन्हीं महिलाओं को इसका लाभ मिल सकेगा, जिनके माता-पिता के पास

बिहार का पता है। पति के बिहार में रहने का प्रमाणपत्र मान्य नहीं होगा। आखिर जो महिला बिहार की बहू बन चुकी है और जिसका पति बिहार निवासी हो, उसे शिक्षक बनने से वंचित क्यों किया जाना चाहिए?

पिछले कुछ वर्षों में बिहार में लाखों शिक्षकों की भर्ती हुई है, पर ऐसी कोई शर्त नहीं थी, फिर अब इसकी जरूरत क्यों पड़ गई? हम बेटियों को आगे बढ़ाना चाहते हैं या ऐसी शर्तें लगाकर उनके रास्ते में बाधाएं खड़ी करना चाहते हैं? जब केंद्र और राज्य सरकारें बेटियों को आगे बढ़ाने के लिए तरह-तरह की योजनाएं लागू कर रही हैं और उनका लाभ पूरे समाज को मिल रहा है, तब ऐसी शर्त उचित नहीं लगती। नौकरियों के मामले में अंततः योग्यता महत्वपूर्ण होनी चाहिए, न कि केवल डोमिसाइल या किसी वर्ग विशेष से संबंधित होना।

हमारे संविधान निर्माताओं ने देश की एकता और अखंडता के लिए ऐसे दूरदर्शी प्रविधान किए, जिनकी वजह से महाद्वीप जैसे विशाल और विविधतापूर्ण देश को एक सूत्र में बांधे रखना संभव हुआ। इसी कारण ब्रिटेन के पूर्व प्रधानमंत्री विंस्टन चर्चिल की यह भविष्यवाणी गलत साबित हुई कि भारत 50 वर्षों में टूट जाएगा। भारत को पूरी दुनिया में लोकतंत्र के एक माडल के रूप में देखा जाता है और इसकी सबसे बड़ी वजह यहां की विविधता है। भाषा, बोली, पंथ, संस्कृति, रीति-रिवाज और जीवनशैली की जितनी विविधता भारत में है, वह बहुत कम देशों में देखने को मिलती है। देश की व्यवस्थाओं में भी इस विविधता के बीच एकता को मजबूत करने का प्रयास दिखाई देता है।

आइएएस, आइपीएस और भारतीय वन सेवा जैसी अखिल भारतीय सेवाएं इसका उदाहरण हैं। केंद्रीय सेवाओं में भी अधिकारियों की नियुक्ति देशभर में होती है। राजनीतिक व्यवस्था में भी यह परंपरा देखने को मिलती है। प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह का जन्म पंजाब में हुआ और उन्होंने दिल्ली में अध्यापन किया, जबकि वे असम से राज्यसभा के लिए चुने गए। इसी तरह इंदिरा गांधी का राजनीतिक आधार उत्तर प्रदेश और दिल्ली में रहा, लेकिन उन्होंने कर्नाटक और आंध्र प्रदेश से भी चुनाव लड़ा। ऐसे सैकड़ों उदाहरण मिल सकते हैं, जिन्हें राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से सकारात्मक माना जाता है।

पिछले कुछ दशकों में आइआइटी जैसे राष्ट्रीय संस्थानों ने भी इस एकता को नया आयाम दिया है। चेन्नई का छात्र दिल्ली, गुवाहाटी या कानपुर के आइआइटी में पढ़ता है, तो बिहार का छात्र चेन्नई में। इन संस्थानों में देश के सभी राज्यों के विद्यार्थी साथ पढ़ते हैं। यहां केवल योग्यता और मेधा महत्वपूर्ण होती है, डोमिसाइल नहीं। इसका दूरगामी सामाजिक प्रभाव पड़ता है। विद्यार्थी दूसरे राज्यों के लोगों, उनकी संस्कृति और रीति-रिवाजों को समझते हैं तथा उनके साथ रहते हुए विविधता का सम्मान करना सीखते हैं। यही सामाजिक एकता राष्ट्रीय एकता की रीढ़ का काम करती है। इसलिए बिहार सरकार का ऐसा निर्णय चिंता पैदा करता है।

बिहार में उद्योग और रोजगार के अवसरों की कमी की वजह से वहां के लाखों लोग देश के विभिन्न राज्यों में काम करते हैं। ऐसे में यदि कल दूसरे राज्य भी ऐसा ही करने लगें, तो इसके क्या परिणाम होंगे? भाषा के नाम पर भी आए दिन विवाद खड़े किए जाते हैं। कुछ दिन पहले महाराष्ट्र में टैक्सी चालकों के लिए मराठी भाषा की अनिवार्यता का मामला सामने आया था, जिसे किसी तरह शांत किया गया। कर्नाटक में कन्नड़ भाषा

की अनिवार्यता को लेकर भी विभाजनकारी स्वर सुनाई देते हैं। तमिलनाडु की राजनीति में भी पिछले 70 वर्षों से उत्तर भारतीय भाषाओं के विरोध का स्वर प्रमुख रहा है।

पिछले दिनों कर्नाटक सरकार का यह फैसला भी गले नहीं उतरा कि बेंगलुरु मेट्रो में सभी सूचनाएं केवल अंग्रेजी और कन्नड़ में ही प्रदर्शित की जाएंगी। बेंगलुरु में देश के सभी राज्यों के लोग रहते हैं। इनमें बड़ी संख्या ऐसे लोगों की है, जो हिंदी या हिंदुस्तानी समझते हैं। ऐसे में केवल अंग्रेजी और कन्नड़ में सूचनाएं उपलब्ध होने से दूसरे राज्यों से आए लोगों, विशेषकर मजदूर वर्ग को परेशानी हो सकती है। जब हिंदी को संविधान में राजभाषा का दर्जा दिया गया है, तो कर्नाटक सरकार ऐसी नीति क्यों अपना रही है? दिल्ली, बेंगलुरु, अहमदाबाद, चेन्नई और पुणे जैसे हमारे महानगर अपनी महानगरीय संस्कृति के लिए पहचाने जाते हैं। यहां देशभर के नागरिक पूरी स्वतंत्रता के साथ रहते हैं और काम करते हैं। जब देश बाहरी और भीतरी चुनौतियों का सामना कर रहा है, तब हमें नीतियां बनाते समय विशेष रूप से सजग रहना होगा। राजनीतिक स्वार्थ या किसी वर्ग विशेष के दबाव में ऐसा कोई कदम नहीं उठाया जाना चाहिए, जिसके दूरगामी परिणाम राष्ट्रीय हित को नुकसान पहुंचा सकते हों।

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 12-11-26

जलवायु परिवर्तन से निपटने के इरादे हुए कमजोर

श्याम सरन, (लेखक पूर्व विदेश सचिव हैं और जलवायु परिवर्तन के मामले में भारत के मुख्य वार्ताकार के रूप में काम कर चुके हैं)

पिछले कई वर्षों से संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम हर वर्ष उत्सर्जन अंतर रिपोर्ट (एमिशन गैप रिपोर्ट) जारी कर रहा है। इस रिपोर्ट में वर्ष 2015 के पेरिस समझौते के तहत ग्रीनहाउस गैस उत्सर्जन कम करने की दिशा में हो रही प्रगति पर नजर रखी जाती है। मगर पिछले पांच वर्षों की इन रिपोर्ट के शीर्षक एक निराशाजनक कहानी बयां करते हैं। ये बताते हैं कि कैसे हमारे इरादे कमजोर पड़ते गए और पेरिस में किए गए गंभीर वादों से हम लगातार पीछे हटते गए। वर्ष 2022 में 'द क्लोजिंग विंडो, वर्ष 2023 में 'ब्रोकन रिकॉर्ड', वर्ष 2024 में 'नो मोर हॉट एयर प्लीज', वर्ष 2025 में 'ऑफ टारगेट' और वर्ष 2026 में 'द पॉइंट ऑफ रिटर्न' शीर्षक नाम से प्रकाशित इन रिपोर्ट में स्थिति की गंभीरता का अंदाजा लगाया जा सकता है।

वैश्विक तापमान वृद्धि 1.5 डिग्री सेल्सियस तक सीमित रखने का मौका हाथ से निकल चुका है। हम पहले ही यह सीमा पार कर चुके हैं। अब लक्ष्य यह सीमा पार करने के बाद उत्पन्न हालात संभालने पर केंद्रित हो गया है। संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम (यूएनईपी) की नवीनतम रिपोर्ट में 'ओवरशूट, पीक और डिक्लाइन पाथवे'

(सीमा का उल्लंघन, चरम पर पहुंचना और फिर कमी का रास्ता) सबसे बेहतर विकल्प बताया गया है ताकि इस स्थिति की गंभीरता और अवधि कम की जा सके और जल्द से जल्द वापस 1.5 डिग्री सेल्सियस से नीचे आने की कोशिश की जा सके।

मगर 'जल्द से जल्द' का मतलब कई दशक हो सकता है। रिपोर्ट में यह कल्पना की गई है कि वर्ष 2100 तक हम वापस 1.5 डिग्री सेल्सियस वैश्विक तापमान वृद्धि के लक्ष्य को ओर लौट सकते हैं। मगर इस बीच के वर्षों में होने वाले विनाशकारी और अपरिवर्तनीय प्रभावों के बारे में रिपोर्ट कुछ नहीं कहती है।

अगर यही सबसे अच्छा विकल्प बचा है तो क्या हम स्वयं को एक वैश्विक तबाही की ओर और तेजी से नहीं धकेल रहे हैं? उत्सर्जन अंतर रिपोर्ट में स्पष्ट और जानी-मानी बात कहने के बजाय एक ऐसी बात कही गई है जो सुनने में तो तसल्ली देने वाली लगती है मगर पूरी तरह गुमराह करने वाली है। सवाल यह नहीं है कि क्या भविष्य में तापमान फिर कम हो सकता है बल्कि यह है कि इस बीच पृथ्वी की पूरी पारिस्थितिकी-तंत्र का क्या होगा। एक बरबाद हो चुकी दुनिया में तापमान कम होने का कोई खास मतलब नहीं रह जाएगा।

बहुचर्चित पेरिस समझौते को फ्रांस के तत्कालीन राष्ट्रपति फ्रांस्वा ओलांद ने वर्ष 1789 की फ्रांसीसी क्रांति से भी कहीं अधिक क्रांतिकारी कदम माना था। वास्तव में इसके नतीजे बहुत मामूली रहे। इस समझौते के तहत दुनिया ने वर्ष 2050 तक वैश्विक तापमान वृद्धि 2 डिग्री सेल्सियस से नीचे और हो सके तो 1.5 डिग्री सेल्सियस के भीतर सीमित रखने का संकल्प लिया।

यह सीमा बनाए रखने के लिए वर्ष 2030 तक उत्सर्जन वर्ष 2010 के स्तर की तुलना में 45 फीसदी तक कम करना होगा। पेरिस समझौते में शामिल देशों के अद्यतन वादों के आधार पर वर्ष 2030 तक उत्सर्जन वर्ष 2010 के स्तर की तुलना में 58.5 फीसदी अधिक हो सकता है। पेरिस समझौते ने एक क्रांति की शुरुआत तो की मगर यह ऐसी क्रांति थी जिसमें उम्मीदें लगातार कम होती गईं। वर्ष 1992 के ऐतिहासिक रियो सम्मेलन को उसके सबसे शक्तिशाली पक्षों ने ही कमजोर कर दिया था और अब पेरिस समझौते को भी पूरी तरह से खोखला कर दिया गया है।

'ओवरशूट, पीक ऐंड डिक्लाइन' की स्थिति लाने के लिए वातावरण से भारी मात्रा में पहले से मौजूद कार्बन डाईऑक्साइड को सीधे हटाना होगा जिससे 'शुद्ध ऋणात्मक उत्सर्जन' की स्थिति पैदा हो सके। यूएनईपी का अनुमान है कि इस सदी के दौरान हवा से लगभग 320 अरब टन कार्बन डाईऑक्साइड बाहर निकालना होगा। यह वर्तमान स्तर पर होने वाले कुल कार्बन डाईऑक्साइड उत्सर्जन के 8 वर्षों के बराबर है। रिपोर्ट में कई ऐसे तकनीकी समाधानों का जिक्र है जिनके जरिए मानवीय गतिविधियों से पैदा हुई कार्बन डाइऑक्साइड गैस वातावरण से हटाई जा सकती है। जंगलों को बचाना, नए पेड़ लगाना और महासागरों को साफ करना ये कुछ ऐसे प्राकृतिक विकल्प हैं जो पहले से ही आजमाए और परखे जा चुके हैं क्योंकि जंगल और महासागर प्राकृतिक कार्बन सोखने वाले स्रोत हैं।

आर्टिफिशल इंटेलिजेंस (एआई) के बारे में क्या जिसे मानवता के सामने मौजूद सभी बड़ी चुनौतियों का रामबाण इलाज बताया जा रहा है?

भविष्य के लिए जो भी सपने दिखाए जा रहे हों मगर फिलहाल तो एआई तकनीक जलवायु संकट और बदतर बना रही है। एआई का कामकाज डेटा केंद्रों पर निर्भर है जो बहुत बड़ी मात्रा में डेटा का लगभग तुरंत भंडारण और प्रसंस्करण करते हैं। बड़ी संख्या में कंप्यूटर चलाने के लिए इन्हें लगातार बिजली (और एक भरोसेमंद बैकअप) की जरूरत होती है, साथ ही इन्हें ठंडा रखने के लिए भारी मात्रा में पानी की भी आवश्यकता होती है। बिजली और पानी की यह मांग हर वर्ष 15 फीसदी दर से बढ़ रही है और एआई के नए और अधिक शक्तिशाली संस्करण आने के साथ इसके और भी तेजी से बढ़ने की संभावना है।

वर्ष 2025-26 में दुनिया भर के डेटा केंद्रों में बिजली की खपत 485 टेरावाट-घंटे (टीडब्ल्यूएच) थी। अगर यह कोई देश होता तो यह दुनिया का पांचवां सबसे बड़ा बिजली उपभोक्ता होता। अनुमान है कि वर्ष 2030 तक एआई के लिए बिजली की मांग 945-960 टीडब्ल्यूएच तक पहुंच जाएगी जो दुनिया भर की कुल बिजली मांग का 3 फीसदी होगी। वर्ष 2024-25 में डेटा सेंटर द्वारा सीधे तौर पर इस्तेमाल किया जाने वाला पानी 222 अरब लीटर था और वर्ष 2030 तक इसके 644 अरब लीटर तक पहुंचने का अनुमान है। 100 मेगावॉट क्षमता वाले एक हाइपरस्केल डेटा सेंटर में हर दिन लगभग 20 लाख लीटर पानी की खपत होती है।

बिजली की यह भारी मांग पूरी करने के लिए फिर से जीवाश्म ईंधन से बिजली बनाने पर जोर दिया जा रहा है। हालांकि, छोटे मॉड्यूलर परमाणु संयंत्रों के इस्तेमाल की संभावनाओं पर भी विचार किया जा रहा है। मगर यह सब भविष्य की बात है। अगर भारत एआई के क्षेत्र में अग्रणी बनना चाहता है तो उसे ऊर्जा और पानी से जुड़ी अपनी मौजूदा समस्याओं को सुलझाना होगा। ऐसा करने से जलवायु परिवर्तन से निपटने के प्रयास निश्चित रूप से पीछे छूट जाएंगे।

'ओवरशूट, पीक और डिक्लाइन पाथवे' असल में कोई समाधान नहीं है और एआई जलवायु संकट का कोई भरोसेमंद हल पेश नहीं करता। तकनीकी अहंकार में इंसान यह भूल गया है कि विशाल ब्रह्मांड में उसका अस्तित्व कितना नगण्य है और प्रकृति के पास ऐसी प्रचंड शक्ति है जो एक पल में सब कुछ खत्म कर सकती है। विडंबना यह है कि यह समझ भारतीय संस्कृति और बौद्धिक परंपरा में गहराई से रची-बसी है मगर इसे अनदेखा कर दिया गया है।

जनसत्ता

Date: 12-11-26

जवाबदेही के बजाय

संपादकीय

जिस समय दिल्ली सहित समूचा राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र प्रदूषण से उपजे संकट में घिरा दिखता है, वैसे में कायदे से होना यह चाहिए था कि सरकार इस मसले को सर्वोच्च प्राथमिकता में रख कर इससे निपटने के उपाय करती। इसके अलावा, इस समस्या को किसी राजनीतिक दायरे में रखकर देखने के बजाय सभी दलों के साथ विचार कर प्रदूषण पर काबू पाने के रास्ते खोजती। मगर इसके उलट आई वह खबर परेशान करने वाली है कि गृह मामलों की संसदीय स्थायी समिति ने 17 नवंबर को होने वाली अपनी बैठक के संशोधित एवंडे से दिल्ली-एनसीआर में बाबु प्रदूषण और वायु गुणवत्ता के महत्वपूर्ण मुद्दे को हटा दिया है। जबकि संसदीय समिति ने पांच नवंबर को अपनी बैठक के एजड़े में एक अहम मुद्दे के रूप में दिल्ली-एनसीआर में वायु प्रदूषण और नियामक उपायों की चर्चा शामिल की थी। दिल्ली और आसपास के इलाके में वायु गुणवत्ता की हालत को देखते हुए स्वाभाविक ही विपक्ष ने संसदीय समिति के रुख पर कड़ी आपत्ति जताई और इस मुद्दे को फिर से बैठक के एजंडे में शामिल करने की मांग की।

यह समझना मुश्किल है कि एक तरफ समूचे दिल्ली- एनसीआर में प्रदूषण एक गंभीर संकट के रूप में सार्वजनिक चर्चा और चिंता का विषय बन चुका है और दूसरी ओर, संसदीय समिति में प्रदूषण और वायु गुणवत्ता के सवाल को चर्चा तक से अलग क्यों हटाया जा रहा है। खासतौर पर दिल्ली में वायु गुणवत्ता सूचकांक की स्थिति लगातार 'बहुत 'खराब' की श्रेणी में दर्ज की जा रही है। एक्यूआइ का स्तर कई इलाकों में चार सौ से भी ऊपर जाना यहाँ बताता है कि यहां प्रदूषण पर काबू पाने के सारे उपाय या तो नाकाम हो गए हैं या फिर उन नियमों को लागू करने के मामले में घोर लापरवाही बरती गई है। डब्लूएचओ की सिफारिशों के मुताबिक, पीएम 2.5 का वार्षिक औसत स्तर प्रति घनमीटर सिर्फ पांच माइक्रोग्राम होना चाहिए। वहीं दिल्ली में पटाखे चलाने के मसले पर सुप्रीम कोर्ट के स्पष्ट दिशानिर्देशों का उल्लंघन हुआ और उस दिन यहां की हवा में सूक्ष्म प्रदूषण कण सीमा से चालीस गुना से ज्यादा पाए गए सवाल है कि क्या सरकार इन्हीं मुद्दों पर चर्चा से बचना चाहती है।

हैरानी की बात यह है कि वायु गुणवत्ता के मुद्दे को जहां संसदीय समिति की चर्चा से किनारे किया जा रहा है, वहीं ब्रिटेन के कैंब्रिज विश्वविद्यालय के शोधकर्ताओं के अध्ययन में यह तथ्य सामने आया है कि अगर विश्व स्वास्थ्य संगठन के वायु गुणवत्ता दिशानिर्देशों का पालन किया जाए, तो हर साल नब्बे लाख से ज्यादा लोगों की जान बचाई जा सकती है। यानी देश अगर सूक्ष्म कणों या पीएम 2.5 के स्तर को डब्लूएचओ के मानकों तक कम कर लें, तो लाखों अकाल मौतों को रोका था टाला जा सकता है। वायु प्रदूषण पर काबू पाने के साथ

ही गंभीर बीमारियों के नए मामलों को भी रोका जा सकता है विचित्र यह है कि पिछले कई साल से ठंड की आहट के साथ दिल्ली में वायु गुणवत्ता सूचकांक का स्तर खतरे की रेखा के भी ऊपर दर्ज किया जाता है। इससे निपटने के लिए सरकार वाहनों की आवाजाही को नियंत्रित करने के साथ-साथ निर्माण कार्यों पर प्रतिबंध जैसे कई कदमों की घोषणा तो करती है, लेकिन एक्यूआइ के स्तर में सुधार के मामले में शायद ही इसका असर पड़ता देखा गया हैं। ऐसे में अगर विपक्ष यह आरोप लगा रहा है कि गंभीर वायु प्रदूषण और सार्वजनिक स्वास्थ्य सरकार की प्राथमिकताओं में शामिल नहीं है, तो यह बेवजह नहीं है।